## हिमविद्ध

—जगदीश गुप्त भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नयी दिल्ली

संस्करण-1964

हिमवान् हिमालय समस्त भारतीय चेतना का देवालय रहा है : ऐसाअ देवतालय जहाँ सत्य, शिव और सुंदर तीनों एक साथ प्रतिमित हों, जहाँ पवित्रता और मांगलिकता ही नहीं, जड़ में चेतन शक्ति का भी साक्षात्कार होता हो | यहाँ जो भी आता है वह एक भव्य शोभा और शक्ति के भाव से तो अभिभूत होता ही है जीवन के एक अपूर्व बोध से भी स्पंदित हो उठता है; मानो यहाँ का विराट् सत्य उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को विद्ध कर देता हो |

प्रस्तुत कविता संग्रह का 'हिम-विद्ध' नाम इसी विद्धता की ओर संकेत करता है | हिम-देश के सम्पर्क ने किव के अभ्यंतर की रिक्तता को जिस कोमल-िस्नग्ध समृद्धि से भर दिया उसी का ये किवताएँ संवहन करती हैं | इनका विषय वहाँ की आँखों देखी टटकी छिवयों का स्थूल दर्शनवर्णन नहीं है, उन अनुभूतियों-प्रतीतियों के सहज और भरे-भींगे शब्दिचत्र उकेरना है जिन्हें पाअकर ही किव ने अपने को हिमविद्ध माना और जीवन उसे नये अर्थ-बोध से स्पंदित होता लगा |

एक बड़ी विशेषता इन कविताओं की यह है कि विषय सूक्ष्म और चित्रात्मक होते हुए भी, ये सब अत्यंत सरल और अपने में रमा लेने वाली है । शैली और शिल्प के प्रचलित आग्रह- भारों से सर्वथा मुक्त हैं; प्रत्येक कविता उसी रूप में प्रस्तुत हुई है जो उसकी मूल अनुभूति के भीतर निहित था । निस्संदेह वर्तमान हिंदी काव्य-साहित्य की 'हिम-विद्ध' से श्रीवृद्धि होगी ।

मूल्य तीन रुपये

कालिदास को

निकोलस रोरिक को

और —

हर उस व्यक्ति को

जिसकी आत्मा ने हिमविद्ध होकर एक जीवनव्यापी पवित्र उन्मेष का अनुभव किया हो

•

### पूर्व कथन

अपने अन्तर्मन में ही नहीं बाहर के वातावरण में भी, एक रचनाकार नाते, मुझे बहुत समय से एक विचित्र प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता रहा है, जो अब भी सर्वथा निःशेष नहीं हुआ है। जहाँ तक मेरे अभ्यन्तर की बात है हिम-देश के सम्पर्क ने रिक्तता के इस कठोर-तिक्त अनुभव को बहुत दूर तक भाव की कोमल स्निग्ध समृद्धि से भर दिया है। प्रस्तुत संकलन की कविताएँ उसी का संवहन करती हैं। बाहर के वातावरण की बात कठिन है। 'भाव' जीवन के अन्तरंग सत्य की गरिमा है, वह व्यक्ति के अस्तित्व का विशिष्ट रूप ही नहीं स्वयं अस्तित्व है । बाह्य जगत् के सम्पर्क से प्राप्त सम्यक् प्रेरणा-द्वारा जब उसकी अभिव्यक्ति होती है तो ऐसा लगता है कि जैसे अपने ही भीतर निहित किसी नये सत्य से साक्षात्कार हो रहा हो, भले ही वह सत्य ज्ञान के धरातल पर पूर्व परिचित ही क्यों न हो। विषाक्त सामाजिक वातावरण में, निरन्तर संघर्षरत रहते हुए, आदमी छोटे-छोटे स्वार्थीं से ऊपर उठकर अपने आन्तरिक भाव-सत्य की प्रतिष्ठा कहाँ करे यह समस्या आज की जीवित समस्या है और मेरे आगे ही नहीं प्रत्येक जागरूक व्यक्ति के आगे उपस्थित होती है। अप्रतिष्ठित भाव घूटन के अभिशाप से ग्रस्त एक भारी बोझ की तरह जीवन को और अधिक दुर्वह बना देता है। अतीत में मनुष्य ने अपने भीतरी भाव-सत्य ईश्वर, धर्म और देवी-देवता आदि के नाम पर कहाँ-कहाँ संस्थापित नहीं किया परन्तु आधुनिक चेतना प्रत्यक्षतः अनुभूत होने वाले वस्तु-जगत अर्थात् मानव और प्राकृति के अतिरिक्त किसी अन्य अलख-अरूप में भावना को संस्थापित करने की प्रेरणा नहीं देती। मानव और प्रकृति के विषय में भी वैज्ञानिकता के आग्रह से युक्त वर्तमान युग में जो धारणा संगत प्रतीत होती है वह मध्यकालीन परलोकोन्मुखी धारणा से भिन्न और स्पष्टतः लोकोन्मुखी है। छायावादी रहस्यवाद भी अब उसमें शेष नहीं बचा है। पैरों के नीचे पदार्थ की कठोरता प्रतिक्षण अनुभूत होती रहती है। मुझे लगता है कि आज का मनुष्य ईश्वर और धर्म के रूढिबद्ध रूप से किनारा करके भी अपनी सार्थकता, मानव-मूल्यों पर अपनी दृढ़ आस्था रखकर तथा प्रकृति से अपने आदिम सम्पर्क-सूत्रों को सजीव बनाकर ही विशेषतः प्राप्त कर सकता है। हृदय की उन्मुक्तता और अनुभव को सहजता के आधार पर वह ऐसी भावमयता अर्जित कर सकता है जो यान्त्रिक जीवन की वर्धमान विषमताओं, यथार्थ की विकृतियों और छोटे-छोटे स्वार्थों की पूर्ति-लिप्ता से आहत मानव मूल्यों की भग्नता के बीच उसे नितान्त रिक्त होने से बचा सकती है। इसमें युग की वास्तविकता से पलायन की गन्ध भी नहीं है वरन् एक प्रकार से उसी की सार्वंगीण स्वीकृति है। प्रकृति से कटकर महानगरों का जीवन भयानक उमस, निर्जीव यान्त्रिकता

और भावहीन व्यवहारिकता से कितना बोझिल हो जाता है, लोग इसका भी बहुत अनुभव नहीं कर पाते। उस बोझ से दबे हुए वे प्रकृति से अपना सहज सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ हो जाते है। उनके लिए प्रकृति का खुला द्वार घटिया स्तर की विलास-वृत्ति को ही इधर से उधर ले जाने का साधन बन जाता है।

सम्पूर्ण जीवन केवल व्यंग्य और विडम्बना ही नहीं है और न दुःख और अभाव ही उसकी समग्रता को व्यक्त करते हैं। नैसर्गिक सौन्दर्य के बहुविध आकर्षणों से उत्पन्न होने वाली आत्मीयतापरक विमुग्धता, सत्य की उपलब्धि के अनुभव से प्राप्त होने वाला अकलुष परितोष तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच मानवीयता से सिक्त सम्बन्धों का प्रतिफलन बनकर आनेवाली आस्था भी जीवन का ही अंग है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि आस्था, परितोष और विमुग्धता का यह पक्ष नष्ट हो जाये तो जीवन का गहरा अर्थ ही समाप्त हो जाता है। हमारी गित केवल सतह तक सीमित रहे, गहराई से उसका कोई वास्ता न हो ऐसा किसी को भी अभीष्ट न होगा। भाव के पक्ष की यह बात रोमाण्टिक या नियोरोमाण्टिक ढंग की नहीं है क्योंकि यथार्थ के परिवेश से विलग होकर भाव की प्रतिष्ठा की माँग यहाँ नहीं की जा रही है। मेरे निकट 'भाव' को स्वीकार करना यथार्थ को मानवीय रूप से स्वीकार करना है।

कला और किवता कभी असह्य बन्धनों को तोड़ती हुई आज जिस जगह आ गयी है, वहाँ उसे स्वच्छन्दता के साथ गितशील होने और अपने लिए विवेकपूर्वक स्वयं दिशाबोध प्राप्त करने का पूरा अधिकार मिल गया है, अपेक्षा है प्राणशक्ति के सजीव स्पन्दनों की जो बिना भाव की प्रतिष्ठा के सम्भव नहीं है। अपेक्षित भाव-तत्व रहित कृति रीते घट की तरह अशुभ प्रतीत होने लगती है। उसमें आत्मीयता और सह-अनुभूति उत्पन्न करने की क्षमता भी धीरे-धीरे समाप्त होती जाती है। केवल अभिव्यक्ति की विच्छित्तियों और रूपगत वैचित्र्य पर बल देने से भाव की कमी को पूरा नहीं किया जा सकता। शक्ति का सन्धान करते हुए समसामियक किवता, और कला भी, कुछ ऐसे उपकरणों की ओर उन्मुख होती गयी है जो स्वयं भाव न होकर उसके धारक या व्यंजक है। परिणामतः जो प्रभाव उसमें मिलता है वह बहुधा विचार-चिन्तन अथवा अभिव्यक्ति-कौशल की देन है। अनुभूति उतनी समृद्ध नहीं हो सकी है जितनी किसी प्रौढ़ युग की रचनाओं में अपेक्षित होती है। भीतर और बाहर की पूरी संगित हुए बिना भावना शक्ति के साथ प्रवाहित नहीं होती। तरह-तरह की वर्जनाएँ उसकी अभिव्यक्ति के आड़े आती रहती है। इन किवताओं के माध्यम से मुझे लगता है कि जैसे मेरे अन्तर्निहित भाव-सत्य ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वानुरूप मार्ग खोजने की चेष्टा की है। किवता और कला का क्षेत्र ऐसा है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को यदि वह सक्रिय है तो अपने अनुरूप स्वतन्त्र अभिव्यंजना-पथ अन्वेषित करना ही होता है।

अपने आज तक के विकास-क्रम को जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि मेरे अन्दर जो भाव-सामर्थ्य रही है उसको पहली बार दीप-श्रृंखला के चित्रों और सम्बद्ध गीतियों तथा दूसरी बार चन्द्रासिक्त की परिधि में निर्मित स्वप्न-चित्रों तथा सामानान्तर रची गयी कविताओं का रूप प्राप्त हुआ। इन दोनों आवेगमय विस्तृत भाव-स्थितियों में एक मूर्त छाया का साहचर्य रहने के कारण मुझे प्रायः ऐसा लगा है जैसे इनमें मैं ही नहीं हूँ, किसी अन्य का अस्तित्व भी है और मैं उसके साथ हूँ। यह अनुभूति अपने में महत्वपूर्ण होते हुए भी अब मुझे इस तीसरी भाव-स्थिति के समक्ष कच्ची ओर बीती हुई प्रतीत होती है। हिम-विद्धता की सारी भाव श्रेणियों के बीच मुझे लगता रहा है कि अब अपने साथ केवल मैं ही हूँ। वह

छाया मुझे पकी ईंट की तरह कठोर बनाती हुई प्रकृति के सौन्दर्य-सम्पर्क में छोड़कर स्वयं तिरोहित हो गयी है। जो कोमलता इन कविताओं में आयी है वह पाषाणों के आगे पकी ईंट की कोमलता है। बाह्य-सौन्दर्य और मेरे अंतरंग-द्वारा उसके प्रत्यक्षीकरण एवं आस्वादन के बीच कोई छायाभास अब कदाचित् शेष नहीं रह गया है। केवल मेरे मन में उसके प्रति अपार कृतज्ञता बची है क्योंकि उसी के द्वारा मुझे अपने अस्तित्व का प्राथमिक बोध हुआ। मैं इस तथ्य से इनकार नहीं करूँगा कि इन तीनों भाव-स्थितियों में कहीं कुछ समानता रही है जैसे रूपाकर्षण, तरलता, तन्मयता और परितोष सुख की दिशा में, परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि यह तीसरा भाव-प्रवाह मेरे निकट एक ऐसी आत्मोपलब्धि का द्योतक है जिसका स्तर पूर्ववर्ती प्रवाह स्तरों से पर्याप्त भिन्न हो चुका है। इसमें द्रष्टा और स्रष्टा के बीच काफ़ी निकटता स्थापित हो गयी है। 'पुनः सृष्टि' कविता साक्षी है। ऊँचाईयों को स्पर्श करने की भावना रखना तथा प्रत्येक क्षेत्र में उनके सौन्दर्य को निहारकर परितोष का अनुभव करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है और भावना के इस धरातल पर मैं अपने को किसी से पृथक् नहीं रखना चाहता।

हिमालय समस्त भारतीय चेतना का महान देवालय रहा है। जो सत्य प्रतिमित देवालयों में प्राप्त नहीं होता वह हिमालय अजस्त उपलब्ध होता है। उसकी अपार सुन्दरता के आगे विनत होने में मेरी आत्मा ने गौरव का अनुभव किया है। उसके शिखरों की अगणित श्रृंखलाओं से आबद्ध होकर मेरी बहुत-सी मानसिक सीमाएँ टूटी हैं। भारतीय दृष्टि तत्वतः मांगलिकता और पवित्रता को केन्द्र में रखकर जीवन के स्वरूप का आकलन करती है। पाषाणमय हिमालय भी उसके निकट कल्याणमय शिव ही रहा है। जड में भी चैतन्यशक्ति का सौंदर्य उसेमें लक्षित होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिक-दृष्टि आज जड के आधार पर चेतन को समझना चाहती है, विश्लेषण के प्रति उसका विश्वास सराहनीय है परन्तु भारतीय चिन्तन के एक व्यापक क्षेत्र में चैतन्य को मूल मानकर जड़ को व्याख्यायित करने का यत्न किया गया है। अन्तिम सत्य तो राम ही जाने पर मुझे जीवन की भारतीय धारणा अधिक मानवीय और प्रेरक प्रतीत होती है। उसमें जीवन को जड वस्तुओं की तरह विभाज्य मानकर नये पुराने के बीच अत्यन्तिक व्यवधान और विरोध सिद्ध करने की अनिवार्यता सामने नहीं आती। मनुष्य का विकास-क्रम विच्छिन्न नहीं होता। अखण्ड इकाई की तरह उसकी प्रतिष्ठा बनी रहती है। जीवन का वास्तविक सम्मान उसकी अखण्डता को स्वीकार करके ही किया जा सकता है। निराशा, कृण्ठा, विकृति, भय और पराभाव के ऊपर खण्डित जीवन-दर्शन के सहारे विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। मैंने चेष्टा की है, इस बात के प्रति सजग रहने की, कि मेरी किसी भी कृति से जीवन का असम्मान न होने पाये। मानव के स्वाभिमान और स्वातन्त्र्य की धारणाओं में जीवन के प्रति इस व्यापक सम्मान-भाव का अंग मानता हूँ।

पर्वत-प्रदेश के मेरे सारे अनुभव इन कविताओं में आ गये हों ऐसी बात नहीं है। हिम देश के निवासियों के आर्थिक तथा अभावमय अविकसित एवं विषण्ण जीवन की ओर इन कविताओं में कोई दृष्टिपात नहीं किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति मेरे बहुसंख्यक रेखाचित्रों में हुई है। यह आवश्यक नहीं है कि सारी की सारी अनुभूतियाँ किसी एक ही माध्यम से कह ही दी जायें। धुँए के बादल रचकर चटचटाहट के साथ पत्थर बरसाती, पिघले हुए लोहे की तरह आँखों को कौंध से भरती दावाग्नि, पर्वत को नीचे से ऊपर तक अपने पाश में बाँध लेने की शक्ति रखनेवाली प्रदीप्त ज्वाल-मालाएँ और उनके बीच रह-रह कर उछलता हुआ वह मृग-शावक, विवशता के साथ उसे देखती हुई मेरी शंकाकुल निरीह आँखें और आसन्न

मृत्यु को परास्त करते हुए अन्तिम साहस के साथ एक ही छलाँग में उसका पूरी की पूरी दरार फाँद जाना मेरे हर्षातिरेक में कुछ सजलता आ जाना और फिर कभी न भूलनेवाली एक स्मृति के रूप में बिना किसी किवता को जन्म दिये सारे अनुभव का मन के एकान्त में स्थिर हो जाना एक ऐसा ही उदाहरण है। ऐसे न जाने कितने प्रसंग हैं जो संवेदना से पूरी तरह सम्पृक्त होकर भी काव्य-रूप ग्रहण नहीं कर सके। इसी तरह बहुत-सी किवताएँ ऐसी हैं जिन्हें किसी अनुभव के ज्ञात रूप से सीधे नहीं जोड़ा जा सकता इस संकलन में 'उपत्यका: आहत करूण स्वर' शीर्षक किवता की तरह शायद ही कोई दूसरी किवता हो जो प्रत्यक्ष अनुभव से इतने निविड़ रूप से सम्बद्ध हो सकी हो। 'प्रकृति रमणीक है' किवता मेरे उस भाव-बोध को शब्द-बद्ध करती है जो प्रस्तुत संकलन की प्रायः सभी किवताओं के मूल में सूक्ष्म रूप से परिव्याप्त रहा है। 'हिम-विद्ध' किवता इस दौर की किवताओं में सबसे पहली है और उसी से संकलन के नाम की उद्भावना हुई है।

किसी परम्परागत काव्य-रूप के संवहन से बड़ा सत्य यह है कि कवि के स्वभाव और कथ्य की प्रकृति के अनुसार कविता का रूप स्वयं उद्भूत होता है। रचनाकार अपनी ओर से उसे उद्भूत होते हुए देखने की तटस्थता एवं विशेष हस्तक्षेप न करने की संयमशीलता अर्जित कर ले तो यह काव्य के लिए चेष्टित रचना-क्रम से कहीं अधिक उपकारक होता है। कविता छन्द-मुक्त ही हो, मेरी दृष्टि यह आग्रह वैसा ही कठोर है जैसा छन्द-बद्धता को कविता के लिए अनिवार्य मानना। कवि की स्वतन्त्रता दोनों से बाधित होती है। इन दोनों सीमाओं से ऊपर उठकर एक ऐसा दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कि प्रत्येक कविता का रूप उसकी मूल अनुभृति के भीतर निहित रहता है और रचना-प्रक्रिया स्वतः निष्पन्न हो जाता है। कवि के लिए अपेक्षित यह है कि वह उस निहित रूप को अपने पूर्वाग्रहों से आच्छादित न होने दे और अपने असंयत हस्तक्षेप से विकृत न बनाये। जहाँ तक सम्भव हो सजगतापूर्वक उसको रक्षित करने का प्रयत्न करे। यदि कोई कविता छन्द-बद्ध होकर ही उद्भूत होती है तो बलात उसे मुक्त-छन्द या छन्द-मुक्त रूप में ढालने की बात मुझे अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इसका विलोम भी उतना ही सही है। मैंनें यत्न किया है कि कविताओं के निहित रूप की यथासम्भव रक्षा कर सकूँ। कई बार पूर्वाग्रह प्रबल हुए पर मैं उन्हें प्रायः संयमित कर सका। कहीं-कहीं अपने को नहीं भी रोक पाया हूँ पर उसका मुझे खेद नहीं है। इन कविताओं को रचते समय कभी-कभी लगा है कि जैसे मैंने किसी ऊँचे कगार से घाटी की अगाध गहराई को धीरे से झाँक लिया हो, या जैसे कई शिखर एक साथ दीख गये हों और मैं निश्चय न कर सकूँ कि पहले किसे देखना है। अधिकतर यही प्रतीत हुआ है कि जल का गति-स्वर सुनते हुए चीड और देवदारूओं के बीच वन-पथ पर सहज गति से चलता जा रहा हूँ तथा पर्वत-पवन की तरह भाव-संवेग मेरा साथ दे रहा हो। जहाँ थकान का अनुभव हुआ थोडी देर रूक लिया।

सारी कविताएँ पिछले चार-पाँच वर्षों के अन्तराल में समय-समय पर लिखी जाती रही हैं। 'शब्द-दंश' के प्रकाशन के समय से ही उनका सृजन आरम्भ हो गया था। ऐसा न होता तो वह संकलन हिमालय के सहयात्री साही को 'ढाकुरी की वर्षाकुल सन्ध्या, सुन्दर ढोंगके जलद-अभिषिक्त शिखर और पिण्डर-वैली के प्रथम हिम-स्पर्श की स्मृति के साथ' स्नेहार्पित न किया गया होता। मैंने हिमालय की ओर उन्मुख होने के लिए चीनी-आक्रमण की प्रतीक्षा नहीं की और न उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया को असंयत ही होने दिया है क्योंकि वैसा मेरा संस्कार ही नहीं है। मैं चाहूँ भी तो वैसा मुझसे सम्भव नहीं है। नये सन्दर्भ ने मुझे स्पर्श न

किया हो ऐसी भी बात नहीं है। अन्त की चार किवताएँ संक्षेप में ही सही पर मेरी सुनिश्चित निजी भावना को व्यक्त करती है। संकट के अवसर से लाभ उठाकर बहुत लिख डालने की शक्ति मुझमें नहीं है, मैं मानता हूँ। मुझे उसकी आवश्यकता भी नहीं है। अपने भीतर रष्ट्रीयता की कोई कमी मुझे दिखाई नहीं देती कि उसे छिपाने के लिए मैं कृत्रिम आवेश के प्रदर्शन का मार्ग अपनाऊँ।

इस बार अपने और अपनी कविताओं के बारे में कुछ ज्यादा कह गया हूँ। पढ़नेवाले के हृदय में यदि यह कविताएँ समान अनुभूति उत्पन्न कर सकीं और इस प्रकार आत्मीयता का कुछ भी विस्तार हो सका तो मैं अपने को कृतार्थ मानूँगा। मैं 'नयी कविता' से सम्बद्ध हूँ इसलिए आवश्यक नहीं है कि मेरी कविताएँ नयी कविता मान ली जायें। मेरे सन्तोष में कोई कमी न होगी यदि ये 'कविता' होने की अपनी मूल सार्थकता सिद्ध कर सकीं।

इनके प्रकाशन के लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठ का हृदय से आभारी हूँ।

प्रयाग: 10 मई '64

—जगदीश गुप्त



#### आँख भर देखा कहाँ

- 1. राशीभूत अट्टहास
- 2. जिस झरोखे से निहारा
- 3. दृश्य-शिशु
- 4. हिम-श्री को देखा
- 5. नमन की चार पंक्तियाँ
- 6. बन्धन, मुक्त मन के
- 7. कहा मन ने आँख से
- 8. आँख भर देखा कहाँ

पुनः सृष्टि

- 9. प्रकृति रमणीक है
- 10. उष्ण स्त्रोत
- 11. हिम नहीं यह
- 12. हिम-स्पर्श
- 13. विद्ध-चित्र
- 14. हिम-विद्ध
- 15. पुनः सृष्टि

#### बादलों के वलय

- 16. बादल की सीप
- 17. हिम-शिखरों पर बादल
- 18. स्याह बादल: जगमगाती धूप
- 19. धूप की चादर
- 20. बादलः एक शब्द-चित्र
- 21. बादल-भँवरे
- 22. ज्योति की मछलियाँ
- 23. बादलः देवदारु-शाखों पर
- 24. बदलों के वलय

## ढाकुरी के भोर

- 25. बात, रात से
- 26. पंख-कोर
- 27. शिखर-स्पर्श
- 28. शिखर हथेलियों पर

- 29. छवि-तरी डूबी
- 30. ढाकुरी के भोर

#### वन-स्पन्दन

- 31. उपत्यका: आहत करुण-स्वर
- 32. सहनशीला नदी
- 33. नदी का आवेग
- 34. पाँगर-गन्ध विथोरती
- 35. उस हिमानी देश में भी
- 36. टेर, पर्वत-पन्थ की
- 37. घाटी की चिन्ता
- 38. घने दारुका-वने
- 39. शाखें और सूची-गुच्छ
- 40. स्तम्भ-कथा
- 41. वन-स्पन्दन

#### स्मरण-जल

- 42. हिम-शिखर मन में
- 43. टेरते हैं शिखर
- 44. कल्पना का अन्तराल
- 45. शिखरों से दूर हूँ
- 46. उम्र का माथा
- 47. भूल क्यों बैठे बटोही
- 48. व्यर्थ शब्द-जाल

- 49. शिखर मेरे
- 50. स्मरण-जल
- मैं वह क्यों नहीं हुआ
- 51. वज्र-संकल्प
- 52. स्वाभिमान
- 53. कौन भूमि होगी जहाँ
- 54. मैं वह क्यों नहीं हुआ

आँख भर देखा कहाँ

1. राशीभूत अट्टहास

देखा हिमवान् को

.....

शब्दहीन अट्टहास राशीभूत कानों ने नहीं —

मुग्ध आँखों ने सुना।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 19

## 2. जिस झरोखे से निहारा

जिस झरोखे से निहारा खुले कोरे पृष्ठ-जैसा वही उज्जवल वही पावन

रूप

वही उठती उर्मियों-सी शैलमालाएँ वही अन्तश्चेतना-सा गहन वन विस्तार वही उर्वर कल्पना-से फूटते जलस्रोत वही दृढ़ मांसल भुजाओं-से कसे पाषाण वही चंचल वासना-सी बिछलती नदियाँ पारदर्शी वही शीशे की तरह आकाश और किरनों से झलाझल वही मुझको वेधते हिमकोण

> जिस झरोखे से निहारा वही उज्जवल वही पावन वही निर्मल रूप

> > पुस्तक पृष्ठ संख्या : 20

## 3. दृश्य-शिशु

दूध के अधउगे दाँत- सी
कोर हिम-शृंग की
फूटी फिर
उस स्लेटी बादल की ओट से

चलता हूँ अरे ! तनिक ठहरो भी, पहले मैं इस शिशु का पूरा मुख तो निहार लूँ!

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 21

## 4. हिम-श्री को देखा

दृष्टि के किनारों तक फैली आकारहीन हिम-श्री को देखा— लगा पुतली ने मुक्त हो मुड़ कर ज्यों आँख की धवलता को पहली बार पहचाना और ?

## और अपनी मलिनता पर लज्जित हो ठिठक गयी।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 22

#### 5. नमन की चार पंक्तियाँ

नमन मेरा हिम-जलद अभिषिक्त शृंगों को। नमन मेरा शान्त सन्ध्यातीत रंगों को। इन्द्रधनु के गुच्छ जिन पर तैरते रहते, नमन मेरा अलकनन्दा की तरंगों को।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 23

•

## 6. बन्धन, मुक्त मन के

हिम-शिखर, निर्झर, नदी-पथ, चीड़-वन, मुक्त मन के लिए बन्धन हो गये। दृश्य से छन कर समाये आँख में, आँख से मन में बसे, मन हो गये।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 24

•

## 7. कहा मन ने आँख से

कहा मन ने आँख से— तुम रमो उज्ज्वल शैल-शृंगों में, मैं रहूँगा लीन तब तक और अंगों में। गया जिस-जिस अंग तक मन विहग शिशु-सा खोलकर निज पाँख, चिकत हो पाया यही — वह तो कभी का बन चुका है आँख।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 25

\_\_\_\_\_\_\_

### 8. आँख भर देखा कहाँ

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी। अटकी ही रही दीठ, वह हिमगिरिमाल ढीठ, मेरे ही आँसू के झीने पट ओट छिपी, देखता रहा बेबस, दी नहीं दिखायी। आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

पंक्तिबद्ध देवदारु, रोमिल, श्लथ, दीर्घ, चारु, चन्दन पर श्यामल कस्तूरी की गन्ध-सी, जलदों की छाया हिम-शृंगों पर छायी। आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।

> शिखरों के पार शिखर, बिँध कर दग गये बिखर,

घाटी के पंक्षी-सी गहरे मन में उतरी, बदरी - केदारमयी मरकत गहरायी । आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 26

पुनः सृष्टि

## 9. प्रकृति रमणीक है

'प्रकृति रमणीक है' जिसने इतना ही कहा— उसने संकुल सौन्दर्य के घनीभूत भार को आत्मा के कन्धों पर पूरा नहीं सहा!

> भीतर तक क्षण-भर भी छुआ यदि होता सौन्दर्य की शिखाओं ने जल जाता शब्द शब्द रहता बस अर्थाकुल मौन शेष ऐसा मौन-जिसकी शिराओं में सारा आवेग-सिन्धु पारे-सा इधर-उधर फिरता बहा-बहा।

प्रकृति ममतालु है;

दूध-भरी वत्सलता से भीगी—
छाया का आँचल पसारती
—माता है!
सिग्ध रश्मि-राखी के बन्धन से बाँधती,
—निर्मल सहोदरा है!
बाँहों की वल्लिर से तन-तरु को
रोम-रोम कसती-सी
औरों की आँखों से बचा-बचा
दे जाती चुम्बन के अनगूँथे फूलों की पंक्तियाँ
—प्रकृति प्रणियनी है!

बूँद-बूँद रिसते इस जीवन को बाँधे मृत्यु-अंजिल में भय के वनान्तर में उदासीन शान्त देव-प्रतिमा है!

मेरे सम्मोहित विमुग्ध जलद-अन्तस् पर खिंची हुई
प्रकृति एक विद्युत् की लीक है !
ठहरो कुछ, पहले अपने को उससे सुलझा लूँ
तब कहूँ — प्रकृति रमणीक है .....।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 29-30

•

## 10. उष्ण-स्त्रोत

हिम-जलद, हिम-शृंग हिम-छवि, हिम-दिवस, हिम-रात,

हिम-पुलिन, हिम-पन्थ; हिम-तरु, हिम-क्षितिज, हिम-पात।

आँख ने
हिम-रूप को
जी-भर सहा है।
सब कहीं हिम है
मगर मन में अभी तक
स्पन्दनों का
उष्ण-जलवाही विभामय स्रोत

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 31

11. हिम नहीं यह

हिम नहीं यह— इन मनस्वी पत्थरों पर निष्कलुष हो

#### जम गया सौन्दर्य ।

यह हिमानी भी नहीं — शान्त घाटी में पिघल कर बह रही अविराम पावनता।

और यह सरिता कि जैसे स्नेह का उद्दाम कोमल पाश अनगिनत प्रतिबिम्ब रच कर बाँधती हो भूमि से आकाश।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 32

## 12. हिम-स्पर्श

प्रथम बार मेरे—हिम के— अस्तित्वों में स्पर्श हुआ, मुझे लगा मैंने नहीं, हिम ने ही मुझे छुआ।

> सीमाहीन रूप की आभा के ज्वार में

फिरता है चेतन मन बहा-बहा,
शीतल हिम-छाँह में
एक बार फिर मनु के भीगे नयन,
वाणी ने कुछ न कहा ।
खिंची प्रत्यंचा रोमांच की,
रोम-रोम मन्त्रपूत शर-सा
पंख खोल उड़ने को आतुर
तैर दिशाकाश —
लक्षित अलक्ष्य-सा,
आदिम आखेटक के बाण से बिंधे
घायल हिरने की तड़पन को झेलता—
अचल, मैं भी मौन रहा ।
रह-रह कर छूटे — संख्यातीत ज्योति-शल्य
मुझमें कहीं फूटा एक अप्रतिहत उष्ण-स्रोत;

पिघल गया,
बाहर का सारा हिम
भीतर के ताप से
पता नहीं मन ने जड़ता को त्यागा, या गहा।
कुछ क्षण बाद मुझे भान हुआ—
मैंने, हिम ने, दोनों ने दोनों को—
विवश एक साथ छुआ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 34

## 13.विद्ध-चित्र

हिम गले क्यों गलें मेरे शब्द जो उसकी अछूती श्वेतिमा को बाँधने में बिछल जाते हैं।

हिम बहे क्यों बहें मेरे अश्रु जो उसकी अचीन्ही भंगिमाएँ देखने को निकल आते हैं।

> हिम गले क्यों हिम बहे क्यों गलूँ मैं ही। बहूँ मैं ही। दिया जिसने वेध उसका 'विद्ध' बनकर कुछ समय तो रहूँ मैं ही।

> > पुस्तक पृष्ठ संख्या : 35

•

## 14. हिम-विद्ध

देखा नहीं क्षीर-सिन्धु
यों ही बस— शिखरों के शीश पर जमी हुई
उसकी विस्फारित तरंगों को
मन्थर निहारा है।

हुए अभिभूत ?
हम थे ही कहाँ, होते जो,
कुछ क्षण को हमसे हमारा अस्तित्व
तुहिन-शृंगों ने छीन लिया।
फिर कब लौटाया हमें ज्ञात नहीं।
लगता है—
उन्हीं मौन-मुद्रित क्षणों का
प्रत्येक अविकल्प अंश
कई-कई जन्मों की स्पर्शातीत—
संचित गहराई से गहरा था।
वह केवल अपना ही नहीं
अब हमारे भी होने का साक्षी है।

नीचे से ऊँचे को देखा हम निमत हुए; सुषमा के भार से— झुक गया हमारा उन्नत दर्शन ! हुए उद्गीव, किन्तु पतली निर्झरिणी भी नाप नहीं पाये एक दृष्टि में; अभ्रंकश हिमाक्षिप्त शिखरों के रूप को बाँधें भी तो कैसे — टूक-टूक शब्दों की डोर में।

जीवन का वेग मृत्यु-वांछा बन बहा,
हमने अनुमान लिया—
भारतजयी होकर भी आये क्यों धर्मराज
गलने हिमवान् में।
श्वासों का अन्त किसी ठिठुरन में होगा ही
इतनी शान्त, शुभ्र, स्निग्ध जड़ता का रूपारूप पारावार
पायेंगे कहाँ पुनः
आयेंगे भी तो यह दीठ नहीं होगी पहले- जैसी
अनास्वाद,
अनाविद्ध।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 37

तूली की नोंक की तरह तीखी दृष्टि विवश फिरती रही, फिरती रही शिखरों को जलदों को अपने और उनके बीच आते देवतरुओं को घेरती सँवारती।

मन ने ज्यों
विधि के बनाये
सब रूपों-आकारों को
फिर से रचा,
जो कुछ भी शेष बचा
साहस बटोर कर
अपने में सोये हुए स्रष्टा को
खुली बाँह छू कर जगाया
कहा— द्रष्टा बनों!
देखो —
यह शिखर-जलद-देवदारु से पूरित

जो भी है, सब कुछ तुम्हारी ही सृष्टि है।

पृथ्वी-आकाश लो, अनिल-जल लो, तेज लो,

#### जैसे सहेज मिले इसको सहेज लो।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 38-39

•

## बादलों के वलय

#### 16.बादल की सीप

जाने कब बादल की सीप ने नभ के उस अधियारे कोने तक मोती-सी चाँदनी उलीच दी,

सारे हिम- शृंगों की कोर-कोर रेशम की आभा से फूट चली।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 43

## 17. हिम-शिखरों पर बादल

शिखरों पर टिके
स्याह बादल की परछाई—
चाँदी के मँजे हुए थाल में
पूजा का दीपक रख

#### आँखों में काजल-सा पार गयी।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 44

•

18. स्याह बादल : जगमगाती धूप

गिरि-शिखरों से तलहटी तक चीड़-वन को घेर उतर आया यह शिथिल बादल धुमैला स्याह हुआ मन के सामने प्रत्यक्ष मेरा दोष ।

परस कर उस छोर तक
फैली हुई हिम-राशि
फूल की थाली सदृश—
यह जगमगाती धूप
खुला मेरे पुण्य का संचित अपरिमित कोष ।

जिस जगह जी चाहता है
देख लेता हूँ ठहर कर
स्याह बादल
जगमगाती धूप
ज़िन्दगी के इस अजाने मोड़ पर मेरा यही सन्तोष ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 45

## 19. धूप की चादर

बादलों के
कई थुलमें
ओढ़ने के बाद भी,
अभी तक
इस शिखर की ठिठुरन
नहीं छूटती तनिक भी;
और
यह मैं हूँ
कि हलकी धूप की चादर
बदन पर डाल कर
देह से ही नहीं
मन से भी पसीज
गुँधा चुका हूँ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 46

20.बादल: एक शब्द-चित्र

साँझ के सेंदुर-लिपे आकाश में सरक आया क्षुधित बादल-व्याल लपलपाती दीर्घ विद्युत्-जीभ जिसकी —

# तुहिन-शिखरों पर विसुध सोयी हुई स्वप्न-डूबी हर किरन को चाट जाना चाहती है।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 47

•

## 21. बादल-भँवरे

खिले देख
शिखरों के इन्दीवर
परिचित कोमलता का भ्रम ले कर
बादल-भँवरे आते,
हिम की चट्टानों से,
बार-बार टकरा कर
मन मारे उड़ जाते
नीली गहराई में
निर्मल आकाश की ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 48

22. ज्योति की मछलियाँ

बादलों की झील के ऊपर— खिला शिखरों का कमल-वन । भोर ने भर-मूठ कुंकुम-किरन-केसर इस तरह फेंकी — वनों के गहन पुरइन-पात सारे रँग उठे। ज्योति की बहुरंग, झिलमिल-मछलियाँ झील के तलहीन बादल-नीर में बहुत गहरे, बहुत गहरे, तिर गयीं।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 49

23. बादल : देवदारु-शाखों पर

देवदारु-शाखों पर रूई के गाले-से रुके हुए बादल ये

सरके तो —

इस गहरी घाटी में किधर कहाँ जायँगे

–कौन कहे ।

सम्भव है पास के
दूसरे नुकीले देवदारु में अटक जायँ |
सम्भव है भेड़ों की तरह
चीड़-वन में ही इधर-उधर भटक जायँ ।
या शायद ऐसा हो—
घाटी के टटके धन-खेतों की
हरी-हरी सीढ़ीयाँ उतर जायँ |

# और अगर शाखों ने — बाँहों में ही कस कर थाम लिया तो शायद न भी गिरें, वहीं कहीं ठहर जायँ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 50

•

#### 24. बादलों के वलय

पवन-दोलित उस अकेले देवतरु की तरह घेरते ही जा रहे हैं बादलों के वलय मुझको भी कहीं।

इन सुकोमल बन्धनों से मुक्त होकर हवा से कैसे कहूँ— जलद-वलियत देवतरु मैं हूँ नहीं।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 51

•

ढाकुरी के भोर

## 25. बात, रात से

आँख-सी उजली-धुली यह रात हिम-शिखर पर रश्मियों के पाँव रख कर बढ़ चली,

कहा मैंने — रुको ! मैं भी साथ चलता हूँ, गगन की उस शान्त नीली झील के निस्तब्ध तट पर बैठ कर बातें करेंगे ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 55

26. पंख-कोर

दृष्टि-पथ में— छू गयी हिम-शिखर-रेखा से देवतरु के झूमते छतनार छोरों-सी किसी उड़ते जल-विहग की पंख-कोर । दृश्य के परिप्रेक्ष्य में ऐसा लगा मुझको कि जैसे हिम-शिखर से छू गया मैं ही।

सिहरनों के तार में ऐसा पिरोया रोम-रोम ताँत-सी बज उठी सारी चेतना ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 56

27. शिखर-स्पर्श

शिखर-पंक्ति छूते- से
किसी श्वेत बादल पर
काँपते मयूर- सी
सिहरन वह
मेरे रोम - पंखों में भर गयी।

'आइस - ब्रिज', पर सहसा मेरे ही सुन्न शीत - विजड़ित पग क्षण-भर को उस मयूर के स्पन्दित नर्तन से

## पूर गये।

मुझे लगा— मैंने भी अभी-अभी कहीं किसी बादल पर पंख खोल शिखरों को छुआ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 57

•

## 28. शिखर-हथेलियों पर

दिन-भर की थकन से मुरझाये सूरज की राशि-राशि आभा को रोक लिया शिखर-हथेलियों पर तिमिर-लीन नीलम गिरिमाल ने ।

कितने क्षण बीते अभी, झिलमिल झलकती, उन ऊँची हिम - कोरों तक गोरी उँगलियों में — पोर-पोर,

#### मेंहदी-सी रच गयी।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 58

•

## 29. छवि-तरी डूबो

सूर्य डूबा नहीं, डूबी नहीं किरनें; शिखर डूबे तिमिर के उस नील पारावार में । शृंग-छिव की, ज्वार-विह्नल श्वेत पतली तरी पर तिरता हुआ निःसंग मैं भी तो वहीं— डूबा कहीं मँझधार में ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 59

## 30. ढाकुरी के भोर

बदलों की औट से छन कर गिरी जो बीच गंगा में यह नहीं वह रश्मि जो हिम पर पड़ी थी ढाकुरी के भोर; पत्तियों को बेध कर दीवार पर छप-सी गयी जो नहीं यह भी नहीं है वह रश्मि जो मन में गड़ी थी ढाकुरी के भोर ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 60

वन-स्पंदन

31. उपत्यका: आहत करुण स्वर

उस विशाल उपत्यका को चीर कर तड़फड़ाहट-भरे स्वर में 'पी कहाँ, पी कहाँ' टेरता फिरता रहा — पागल पपीहा।

सोचता हूँ— थी बनी किस घात की, हर रटन के बाद तीखी और होती गयी जीहा। घन-घिरे वे शिखर
'सुन्दरढोंग' के
साँझ की हिम धूप में
झलके, झलक कर खो गये।
फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ'

बादलों के वज्र-गर्जन नाद से सहमी हुई नोंक तक कम्पित खरू की पत्तियों से दुरे वर्षा-बूँद, फिर हुआ वही स्वर 'पी कहाँ'।

प्रखर गीले पंखवाले गिद्ध-सा पर्वत पवन का एक झोंका देह पर शीत के पंजे चुभा कर उड़ गया। फिर हुआ स्वर 'पी कहाँ'

डाकबँगले की अँगीठी देर तक अनसँवारी माँग में सिन्दूर भरती रही, ओढ़ कर फिर राख की चादर अचानक बुझ गयी, किन्तु वह आहत करुण स्वर बावला, कौन जाने और कब तक दर्द से जलता रहा। •

#### 32. सहनशील नदी

उस किनारे से अचानक चीड़-वन को थरथराता, दूर — भारी एक पत्थर गिरा, क्षुब्ध लहरों ने तड़पकर हर दिशा को सूचना दी, प्रतिध्वनि के सिवा कोई कहीं से आया नहीं।

रश्मियों की सलाई पर चढ़ा— ऊनी इन्द्रधनु बुनती, अधूरा छोड़ विवश आने को हुईं, कुछ उर्मियाँ किन्तु जल की सहज गति में एक गहरी शान्ति के अतिरिक्त मिला कुछ भी तो नहीं उनको । सह गयी वह नदी छोटी चोट इतनी बड़ी आखिर सह गयी।

रश्मियों की हाथ में लेकर सलाई फिर वही। शुरू ऊनी इन्द्रधनुओं की बुनाई फिर वही।

•

#### 33. नदी का आवेग

पर्वतों के बीच बहती नदी का आवेग जैसे —

अश्रु बन कर बिखरने से पूर्व हिडडियों को ठकठकाता हुआ कोई दर्द रिक्त मन की घाटियों को चीर जाये।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 66

•

#### 34. पाँगर-गन्ध बिथोरती

भर-भर अँजुरी पाँगर-गन्ध बिथोरती,

पर्वत की कोमल बयार भी अपनी गन्धमादनी गति से एक साथ ही देह प्रान झकझोरती।

भँवरों की गुंजार टार कर बिथुरी सौरभ कणिकाओं से गुपचुप मधु रस चोरती ।

भर-भर अँजुरी .....।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 67

•

### 35. उस हिमानी देश में भी

दमकती हीरक-कनी-सी उन अदेखी शिखर-कोरों की चमक थके पैरों की दुखन सहला गयी।

राह पथरीली वनों के बीच छिपती-झाँकती सिहरते हर एक रोएँ को उस हिमानी देश में भी स्वेद से नहला गयी।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 68

•

36. टेर, पर्वत-पन्थ की

शिखर-कन्धे पर जनेऊ की तरह चढ़ता हुआ बसा पाँगर-गन्ध में, खोया— गुच्छ-अंजिल से गिरी
सित-अरुण भोली पँखुरियों बीच,
घिरा, उलझा
गिझन पाटल-वल्लरी के
भूमिशायी कुंज-पाशों में,
चीड़-वन की
पीत-गैरिक सूचियों से विंधा
विलमता क्षण-भर
देवतरुओं की घनी आशीष-छाया तले,
देवतरु वे —
रिश्मयों से कसे हरित वितान-जैसे।

फिर उठा कर हाथ लेता कभी अँगड़ाई
मौन-बोझिल अलस आँखों से
निर्झरों की ओर झुकता-झाँकता,
पहुँच कर आइस-ब्रिजों पर
स्पर्श से कँपता सिहरता
आज भी मेरे थके-हारे पदों के पास आकर
स्नेह-गीले परस से सब श्रम मिटाकर
टेक कर माथा
बड़ी मनुहार करता कह रहा है—
'उठो! आओ चलो मेरे साथ;
दूर— घाटी-पार से —

सुनो ! अब भी टुनकती है घण्टियाँ भारवाही बकरियों के कण्ठ की, गीत गाते — बैल पर लादे हुए घर-बार उन कैलाशगामी यात्रियों की सुधि दिलातीं चीरती-सी काल का व्यवधान — फिर-फिर टुनक जातीं

सुनों ! सुनते क्यों नहीं ?'

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 69-70

37. घाटी की चिन्ता

सरिता-जल में
पैर डाल कर
आँखें मूँदे, शीश झुकाये,
सोच रही है कब से
बादल ओढ़े घाटी।
कितने तीखे अनुतापों को
आघातों को
सहते-सहते

# बन गयी होगी पत्थर इस रसमय धरती की माटी ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 71

•

#### 38. घने दारुका-वने

खोयी इन आँखों की आँख, घने दारुका – वने। गुच्छों में खोये हैं बरुनी के छोर। छाया में सोयी है पुतली की कोर। हिम में मिल फैल गये कोये सब ओर। जो भी दे हेर, मिलें मोती नौ लाख, घने दारुका – वने।

तब से ये सपने में पागल-सी डोलतीं। अपने से सुन लेती, अपने से बोलतीं। घायल सीपी-सी भर-भर मोती रोलतीं। पती तो उड़ जातीं फैलाकर पाँख, धने दारुका-वने।

पलकों में बन्दी है मरकत-सा रूप। हिलती डालों से छनती पीली धूप। शिखरों से परस हुए बादल तद्रूप।

# उलझ रही गदरायी शाखों से शाख, घने दारुका - वने ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 72

39. शाखें और सूची-गुच्छ

शुभ्र हिम-शिखरों की —
सुषमा के भार से
झुकी-झुकी अभिमन्त्रित
— शाखें देवदारु की ।

हिम-श्री को छूने के निर्मल उल्लास से उठे - उठे रोमांचित —सूची-गुच्छ चीड़ के।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 73

40. स्तम्भ-कथा

नन्दा देवी के क्रीड़ा-प्रासादों की रचना करने को स्वयं विश्वकर्मा ने, खम्भे ही खम्भे जगह-जगह रच डाले सर्जन संकल्पों में जाने-अनजाने।

उनकी नभ-भेदी गर्वित ऊँचाई को, जब विधि से देखा नहीं गया ईर्ष्यावश, निज मन्त्रशक्ति से उसने उन स्तम्भों को परिणत कर डाला तरुओं में अभ्रंकश।

निश्वसित विश्वाकर्मा के कर से छेनी जा गिरी छूट कर जल की गहराई में, लहरों में ऐसी सृजनशीलता जागी, रच गये वहाँ भी खम्भे परछाई में।

बोला वह आकुल-कण्ठ-कण्ठ —'अरे चतुरानन मेरी रचना तू मिटा नहीं पायेगा । यह घने चीड़-वन और देवतरु-कानन, जो भी देखेगा स्तम्भित रह जायेगा ।'

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 74

41. वन-स्पन्दन

तरु-शिखाएँ भूमि की आकांक्षाएँ ..... वेधतीं आकाश चीड़ सिहरन देवतरु रोमांच पुलकनों से बनी सारी पत्तियाँ,

स्पन्दनों का गहनतम इतिहास— परिणित हो गया जैसे वनों में, किन्तु धरती के हृदय की बात पूरी— बँध कहाँ पायी त्वचा के कम्पनों में।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 75

#### स्मरण-जल

42. हिम-शिखर : मन में

शीशे की नाव में
बर्फ़ के टुकड़े
पिघलते हैं
गलते हैं
और —
कहीं निराधार तरनी वह
तैरती है
अपने ही जल में।

### 43. टेरते हैं शिखर

टेरते हैं शिखर रह-रह झाँक जाती है— रुपहली कोर मन के शान्त, निर्मल, गहन जल में।

टेरते हैं शिखर
रह-रह टीस जाती है—
वनों की याद
छनती रश्मियों के भूमि-शायी ज्योति-छल में ।
टेरते हैं शिखर
रह-रह तैर जाती है—
जलद-छाया
साँवली अलि-पंक्ति-सी उजले कमल में ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 80

44. कल्पना का अन्तराल

वस्तु को सुंदर बनाती है
—भावमय दूरी,
चाहे वह
देश की हो
काल की हो

अथवा हो कल्पना की रूपगत बोध की दूरी वह — रच-रच देती है नयी-नयी छवियाँ अन्तरंग दृष्टि के सारे अन्तराल में।

होगा कठोर और कौन सत्य हिम से पाषाण से !

होगी
रमणीक और कौन छवि
इन सुदूर शिखरों की
रंगारंग आभा से
—आभा के रंजित आह्वान से।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 81-82

45. शिखरों से दूर हूँ

इसमें, उसमें —

अनगिन धंधों में, उलझा हूँ, शिखरों से दूर हूँ।

पाऊँ जो पंख अभी हिम-जल से अभिमन्त्रित घाटी में तिर जाऊँ लेकिन मजबूर हूँ ।

देखना था निर्निमेष भावों में जिन्हें उन्हें सपनों-सा मन-ही-मन अनुदिन अभावों में देखता हूँ, मैं कितना क्रूर हूँ!

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 83

46. उम्र का माथा

लौट आया हूँ
थके हारे अहेरी-सा
गहन वन में भटक कर;
सुनहली हिरनी-सदृश हर बार
तन-झलक से
मुझे छलती रहो — चढ़ती धूप।

गहन वन से

लौट आया हूँ,

उस मनोहारी थकन से

मुक्ति भी कुछ पा चुका हूँ;

किन्तु मेरी उम्र का माथा —

दीपते प्रत्येक हिम-छादित शिखर की

छाँह में बहती

प्रखर स्रोतस्विनी के

वीचि सिंचित

इनद्रधनुषी कूल पर
—अब भी टिका है।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 84

47. भूल क्यों बैठे बटोही

छन्द में आबद्ध कविता-पंक्ति-सी
भोज-तरुओं पर कसी
रस-गर्विता बेसुध लताएँ,
सरसराते पवन के आवेग पर
किसी जालीदार श्वेत दुकूल-सी उड़ती हुई
निर्झिरिणियों से भरी— वे घाटियाँ
और उनमें झाँकती हिम — शृंखलाएँ
भूल क्यों बैठे बटोही!
क्या तुम्हारे स्वप्न-जल में झलमलाते

उन हिमानी स्वर्ण-शिखरों पर — शान्त संझा-कुन्तलों-से ताम्र-जलद झुके नहीं ? क्या तुम्हारी चित्र-रचना से अभी तक स्नेह-अर्जित रूप-लक्षी भोजपत्र चुके नहीं ? अरे ! पर्वत-प्रान्त से आती हुई इस सुपरिचित प्राण-वेधी टेर को और तुम कब तक उपेक्षित कर सकोगे ? क्या कहीं कुछ और अब भी शेष है जिससे रिक्तता अपने हृदय की भर सकोगे ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 85

48. व्यर्थ शब्द-जाल

लो मैं तो भोर से ही शब्दों का जाल डाल मर्माहत निरा मौन बैठा हूँ स्मरण-दीप्त विष्णु-प्रयाग की शिलाओं के चिकने सोपान पर!

> मुझ तक न आना नहीं, स्वच्छ विष्णुगंगा के उच्छल तरंग-गुच्छ छीप-छीप जायेंगे

### बेबस तुम्हारे भी देह-प्राण।

जिसके आरोह-अवरोहों पर
किरनों के कंचन-दुकूल-सा
बार-बार बहने को
आतुर मन
उस फेनिल क्षिप्र अलकनन्दा की
धाराहत प्रखर धार
जाने कब से उलझी
जल के कम्पित तल की —
गीतिमयी स्वरलिपि में।

मेरा शब्द-जाल व्यर्थ, कोई भी मछली उस छवि-दोलित उज्ज्वल जल-रूप की छली नहीं जा सकी,

> हाथ लगीं केवल कुछ छीटें ही जिनकी शीतलता से भीग कर रोम-रोम अब भी है— कण्टिकत ।

### 49. शिखर मेरे

जागता हूँ तो —
कहीं छुप कर मुझी में
शिखर मेरे जागते हैं,

और सोता हूँ अगर — तो कहीं मेरे बीच अन्तर्लीन हो सोना मुझी में चाहते हैं!

> नहीं, कोई नहीं है जिससे कहूँ मैं मर्म की यह बात! घाटियाँ वे दूर हैं देखा जहाँ से इन्हें

> > पहली बार ज्योत्स्रा-स्नात आधी रात !

> > > पुस्तक पृष्ठ संख्या : 88

50. स्मरण-जल

मुँदी आँखों देखता हूँ

वे शिखर दूरस्थ घुलते जा रहे हैं स्मरण — जल में। बदलों के स्पर्श से नम हो गये थे रंग जो आकाश के, और घुलते जा रहे हैं स्मरण — जल में। पास मेरे कहाँ ऐसी तूलिका उनको सँवारू, कहाँ ऐसी दृष्टि जो अधूरे चित्र में भी रूप को पूरा निहारूँ। किन्तु आहत शिखर के इस छोर से उस छोर तक दोहरी लपकती बिजलियों की तरह मेरे बन्ध खुलते जा रहे हैं स्मरण - जल में।

## मैं वह क्यों नहीं हुआ

#### 51. वज्र-संकल्प

कहाँ है वह हाथ

मुझसे माँगने को

— दान

संकट-काल में

जो बढ़ा मेरी ओर,

कहाँ से आयी अभी

वह मर्म की आवाज़

जिसने दिया

मेरी चेतना की जड़ों को झकझोर;

चाहते हो स्वर्ण

—यह लो

चाहते हो रक्त

— वह भी दे रहा हूँ,
किन्तु पहले तनिक उसका
वेग सह लो
और यदि हो उँगलियों में शक्ति
फिर भी शेष
तो लो दे रहा हूँ
यह धधकता हुआ दृढ़ संकल्प

अपनी आस्था का अस्थिमय अस्तित्व रच सको तो रचो इससे वज्र घातक क्रूर। कर सको तो करो सीमा के असुर का गर्व।

— चकनाचूर ।

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 93

52. स्वाभिमान

देश मेरे !
ज्योतिमय तेरे तुषार किरीट पर,
कुछ मकोड़े रेंग आये —
समझ कर तुझको निरा म्रियमाण ।

झिटक दे सिर तिनक दायीं ओर बांयी ओर, किलबिलाकर कीट धरती पर गिरें उत्तान ।

जान लें यह निकलने से पूर्व उनके प्राण, काल से भी अधिक होता है भयावह किसी आहत स्वाभिमानी देश का जागा हुआ अभिमान ।

## 53. कौन भूमि होगी जहाँ

गये महाभारत के बाद शान्ति पाने को जहाँ— गहन चिन्ताकुल धर्मराज आज वहीं उसी शुभ्र, हिम - पावन, जलदोन्नत भूमि पर नये महाभारत का सूत्रपात! अब इससे ऊँची इससे पावन कौन भूमि होगी जहाँ युद्ध - जयी होने के बाद पुनः पाने को शान्ति - लाभ जायेंगे आगत युग के चिन्तित धर्मराज ?

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 95

54. मैं वह क्यों नहीं हुआ

मैं वह क्यों नहीं हुआ जिसने हिम-शिखरों की रक्षा में

#### पहला आघात सहा ।

मैं वह क्यों नहीं हुआ जिसके घायल तन से चौड़ी चट्टानों पर प्रथम बार किसी गर्म सोते - सा— रक्त बहा । मैं वह क्यों नहीं हुआ!

पुस्तक पृष्ठ संख्या : 96

•